



खुलीं आँखें खुले डैने



केदारनाथ अग्रवाल

खुलीं आँखें खुले डैने

केदारनाथ अग्रवाल



साहित्य भंडार
इलाहाबाद 211 003

ISBN : 978-81-7779-187-7



प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद-3

दूरभाष : 2400787, 2402072



लेखक

केदारनाथ अग्रवाल



स्वत्वाधिकारिणी

ज्योति अग्रवाल



संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2009



आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल



अक्षर-संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद-2

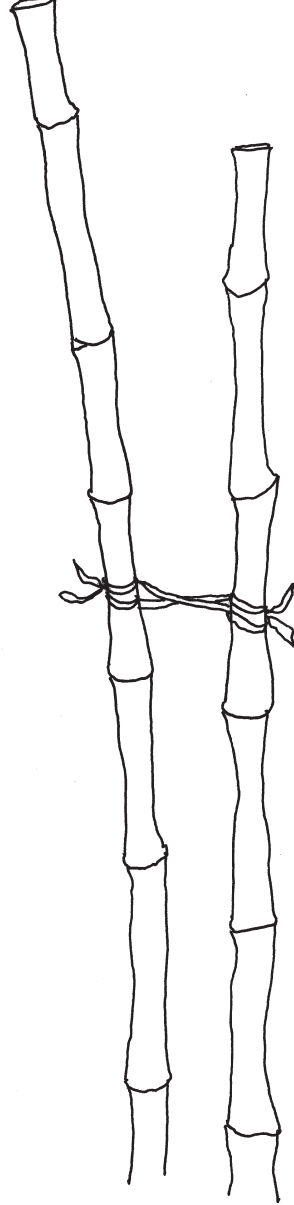


मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद-3



मूल्य : 150.00 रुपये मात्र

खुलीं आँखें खुले डैने



प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक त्रिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

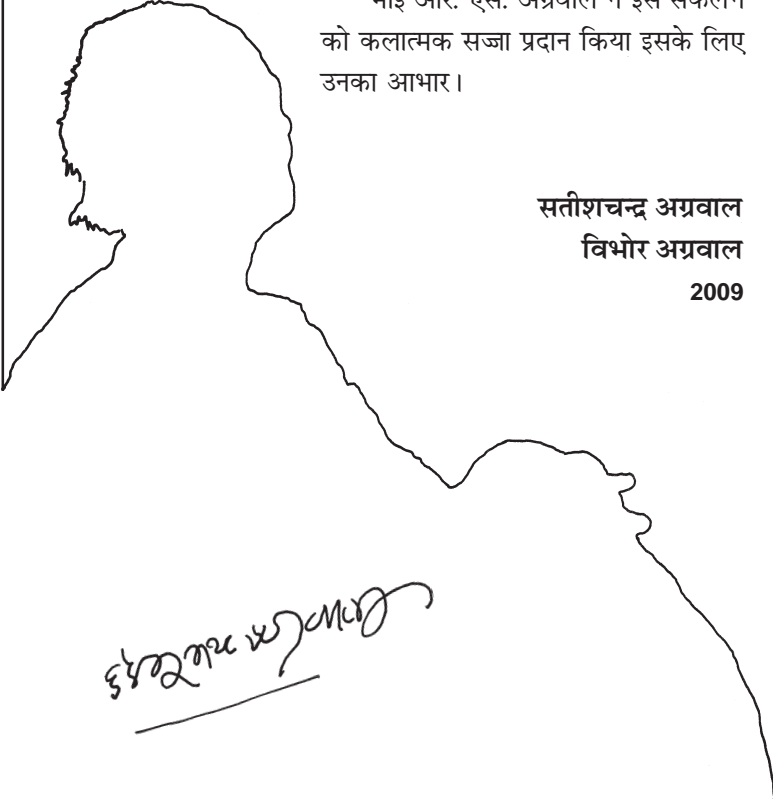
एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक त्रिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल

विभोर अग्रवाल

2009



इश्वर प्रसाद अग्रवाल

अपनी दोनों पुत्रियों,
श्याम और किरण को
शुभाशीष के साथ

6 / खुलीं आँखें खुले डैने

अनुक्रम

कविता का शीर्षक या पहली पंक्ति	रचना-तिथि	पृष्ठांक
दाल-भात खाता है कौआ	31-1-69	23
कैद है आदमी का सूरज	14-10-69	24
तुमने गाये-गीत गुँजाये	15-7-73	25
खेल-खेल में उड़ा	18-12-79	26
दिक्काल का भोक्ता अहं	6-1-80	27
गाँव की सड़क	10-1-80	28
उनको महल-मकानी	11-1-80/ 11-6-90	29
सभी तो लड़ते हैं	27-1-80	30
देने को तो सब देते हैं	12-12-81	31
मौत को साधे शब्द	3-11-83/20-12-90	32
वह न रहा मेरे पास	30-5-86	33
बाँस की बंशी बजाती	8-10-86	34
कविता जो न सार्थक हो	9-3-90	35
देता भी तो क्या देता मैं तुमको	30-5-86	36
गिरे तो गिरते गए	9-2-90	37
न घटा जो यहाँ कभी पहले	9-2-90	38
चित्त होते हारते चले जाते हैं	9-2-90	39
किताब में लिखे तुम	19-9-90	40
अब	23-2-90	41
गये तुम भी	23-2-90	42
उड़ी, आईं	4-3-90	43
देह-दण्ड	1-4-90	44
अब पहरुये	2-9-90	45
जब जो मैंने कहा	4-10-90	46

निरंतर बना रहेगा	4-10-90	47
सुबह से शाम तक	22-12-90	48
घना कोहरा	21-12-90	49
लेनिन	21-1-91	50
मरना होगा	1-2-91	51
पात पुरातन लेकर	3-2-91	52
जाते-जाते भी	1-3-91	53
फूलों ने होली	4-3-91	54
चन्द्र चमत्कृत	23-3-91	55
अच्छा लगता है	17-3-91	56
मैं जिलाये और जगाये ही रहूँगा	18-3-91	57
देखा, पास पहुँचकर देखा	23-3-91	58
मेरी कलम चोंच से लिखती	28-3-91	59
नींद आई भी न आई	13-8-90	60
जी आया	23-3-91	61
जो रुचिर रुचि से रची हो	30-3-91	62
सब कुछ देखा	31-1-91	63
निशा-निशाकर का	31-1-91	64
भरते-भरते	4-4-91	65
जन के पथ की	4-4-91	67
चारु चरित्रिणी	6-4-91	68
न जवान	20-8-91	69
साक्षी है	2-8-91	70
अजीब आदमी हो जी !	2-8-91	71
जो न होना था हुआ	3-8-91	72
प्यार-पलाश	1-8-91	73
यह जो मेरा अंतःकरण है	12-4-91	74
न पत्थर चूमता है पत्थर को	4-7-91	75
नेतृत्व का नायक	9-2-90	79
तुम	21-8-91	80
बादल पंख बने	28-8-91	81

ऊपर गर्जन-तर्जन करते	29-8-91	82
चला भी न चला वह	30-8-75/30-8-91	83
प्रकाशित खड़ा है	16-9-91	84
सब हैं व्यस्त	17-9-91	85
अम्बर का छाया मेघालय	19-9-91	86
सूरदास ने कभी कहा था	21-9-91	87
दिन का दर्पण	22-9-91	88
मैदान में	22-9-91	89
सुबह	17-10-91	90
धूप-धुपाया	17-10-91	91
धरती घूमी	19-10-91	92
हाथ से बेहाथ होकर	20-10-91	94
मालवा में गीत मेरे गूँज जायें	22-9-50	95
मेरा फूल नहीं खिलता है	30-7-53	96
कल, दुर्गा की	18-10-91	97
मेरे ही प्रतिरूप पेड़ पर	2-11-91	98
आदमी का जाया	25/26-12-91	99
मनहर जैविक	29-12-91	100
बिजली बनी	31-12-91	101
बकझक-बकझक	31-12-91	102
उड़कर आये	30-12-91	103
हवा ठंडी	11-1-92	105
शशक	14-1-92	106
जन्म-मरण का होना	18-1-92	107
धवल, यशस्वी	24-1-92	109
यह-दैहिक	23-5-89	110
सागर तट पर	4-3-92	112

□□

भूमिका

अब, मैं, अस्सी का होकर, इक्यासी में चल रहा हूँ। न तन पहले जैसा है, न मन। जीवंत पहले जैसा हूँ चेतना पहले से अधिक बोधक और बेधक हुई है। इसीलिए, अब, इस दौर की मेरी कविताएँ, पहली जैसी जैविक संस्पर्शी, नहीं रहीं। आकार में, विस्तार में, छोटी हुई हैं, किंतु अर्थ की अभिव्यक्ति में अधिक सक्षम और सघन हुई हैं।

दीर्घकाल तक चिंतन-मनन करते-करते, द्वन्द्व और संघर्ष झेलते-झेलते, यह सत्य मैंने जाना कि आत्म-केंद्रित होकर परमात्म-केंद्रित होकर आदमी, विशिष्ट व्यक्ति तो बन सकता है और कहला सकता है, परन्तु जग-जीवन और कार्य-कलाप से, प्रकृति और परिवेश से विमुख होकर अपने मानवीय बोध को विकसित नहीं कर सकता। अलौकिक होने के लिए, लौकिकता को त्यागते चले जाते ये आदमी पूज्य महापुरुष की श्रेणी में पहुँच जाते हैं। निश्चय ही, समाज को ऐसे लोग जहाँ का तहाँ, छोड़ देते हैं, पूरे समाज की लौकिकता के परिष्कार के लिए, सक्रिय रूप से इसके व्यवहार के कार्य-क्रम को चलाकर, नई जीवंत दिशा और दृष्टि नहीं देते: दूसरे आदमियों को, मात्र उपदेश और प्रवचन से, अपनी तरह का बना देना चाहते हैं। दीन और दरिद्र, वही-वही दारुण शासन और शोषण सहते-सहते, मरते-खपते रहते हैं। धार्मिक उद्धार की प्रथा और प्रणाली, आदमी को-सामान्य जन को-प्रयोग-धर्मी न बनाकर, स्वप्न-द्रष्टा, अलौकिकवादी और त्यागी बनाकर, परलोक में जीने का वरदान-मात्र देकर अपना दायित्व पूरा करने में लगी रहती है। मैं, आदमी की महत्ता, इसमें समझता हूँ कि वह अपनी चेतना को मानव-बोधी बनाता चले, लोक में लीन रहे: स्वयं, जग और जीवन से, प्रकृति और परिवेश से, लोक-व्यवहार से द्वन्द्व और संघर्ष करता रहे, और सत्य से सम्बद्ध होते-होते, भ्रम और मिथ्या का परित्याग करता रहे। जो ऐसा नहीं करता वह अविकसित बना रहता है: असम्बद्ध होकर, व्यक्ति सबसे कटकर, अकेले में मर जाता है। इसीलिए, मैं, अब, अपने आसपास से, लोगों से, पेड़-पशुओं और पक्षियों से, नदी-पहाड़ और हो रहे घटनाक्रम से सम्बद्ध बना रहता हूँ। यही मानव-जीवन है। मैं, जब भी, इस सबसे असम्बद्ध होने लगूंगा तभी मर

जाऊँगा। इसीलिए, इस संकलन की अधिकांश कविताएँ, मेरी इसी सम्बद्धता की उपज और देन हैं।

सम्बद्धताभी कई स्तर की होती है। एक औपचारिक सम्बद्धता होती है। एक सामयिक सम्बद्धता होती है। एक पारम्परिक सम्बद्धता होती है। एक कर्मकांडी सम्बद्धता होती है। एक रूढ़िवादी सम्बद्धता होती है। एक पारिवारिक सम्बद्धता होती है। एक नैतिकबोधी सम्बद्धता होती है। एक परिस्थितिक सम्बद्धता होती है। एक व्यावसायिक सम्बद्धता होती है। एक वर्गीय-दलीय सम्बद्धता होती है। एक अंध-विश्वासी सम्बद्धता होती है। एक वैचारिक सम्बद्धता होती है। एक अहंवादी सम्बद्धता होती है। एक शास्त्रीय सम्बद्धता होती है। इसके विपरीत एक वह सम्बद्धता भी होती है जो, चेतना से उपजी, चिर जीवनदायी सम्बद्धता होती है। मैं, इसी सम्बद्धता को अपनाकर अभी आगे भी, बहुत समय तक, जीना चाहता हूँ और मृत्यु से पार पाने का इसे ही एकमात्र साधन मानता हूँ।

जड़-चेतन, चर-अचर, जो भी हुआ है, जो भी जन्मा है, वह सब, पूरा-का पूरा, प्रकृति के अन्तर्गत आता है और कहीं बाहर से अस्तित्व में नहीं आता। प्रकृति स्वयं, होने और न होने के कारण अस्तित्व में आती, विकसित होती, पुरातन रूप को त्यागती, नये घटना-क्रम में नये रूप धारण करती है। वह स्वयंजाया है-स्वयंजीवी है-स्वयंसंहारी है-स्वयं अवतारी है-इसीलिए तो वह नियमानुसार अस्तित्व और अन-अस्तित्व के अधीनस्थ है। आदिकाल से अब तक इसी अधीनता का क्रम चलता आया है और अनंतकाल तक ऐसा ही क्रम चलता रहेगा। आदमी भी तो, इसी नियमानुसार स्वयंजीवी प्रकृति की, जायी-उपजायी इकाई है—संतान है। प्रकृति की इसी इकाई ने—इसी संतान ने—जैविक जीवन जीते-जीते, अनुभव करते-करते, चेतना अर्जित की है और उसी को उत्तरोत्तर सत्य-संज्ञानी बनाते-बनाते उसी से मानवीय सभ्यता और संस्कृति के लोक की अवतारणा की है। यह मानवीय लोक, प्रकृति के लोक से, नितान्त अलग है।

मानवीय बोध का जीवन जीने के क्रम में मैंने अपनी चेतना को सृजनधर्मी बनाना शुरू किया। कविता लिखने का प्रयास करने लगा। कविता केवल इंद्रिय-जन्म नहीं होती। जब आदमी पहले-पहल रचना-रत होता है, तब वह अपने इंद्रिय-बोध से अधिक प्रभावित रहता है। भाषा जैविक संस्पर्शों को ग्रहण करती है और उन्हीं के बिंबन को प्राथमिकता देती है। कालांतर में, जब आदमी, जैविक संस्पर्शों से ऊपर उठकर, चेतना के लोक में पहुँच जाता है, तब वह अपनी विकसित आत्मीयता का बिम्बन करना आरम्भ कर देता

है। इसके बाद, फिर जब आदमी यथार्थ से टकराते-टकराते, अपनी आत्मीयता को अहं से-निजता से-अपनी एकांगी वैयक्तिकता से बाहर निकाल सकने में सक्षम हो जाता है और सत्य को ग्रहण करने लगता है, तब वह अपने आत्म-प्रसार को, दूसरों का आत्म-प्रसार बनाने में लग जाता है और अब उसकी रचनाएँ व्यापक, सारगर्भित, चेतना की सृष्टियों का रूप-रंग पाकर, दूसरों के लिए वरेण्य बन जाती है। लेकिन आदमी की यह क्षमता, उसके वृद्ध होने पर, पहले जैसी प्रबल नहीं रहती। इसीलिए वृद्ध कवि की कविताएँ, स्थापत्य प्राप्त करके, थोड़े में ही अधिक व्यक्त करने लगती हैं। संवेदन, सूक्ष्म स्वभाव का होकर, सम्प्रेषण को भी उसी स्वभाव का बना लेता है। मानवीय बोध का विम्बन तो होता है, फिर भी उसका विस्तारीय बिम्बन नहीं होता। ऐसी स्थिति से उबरने के लिए, जीवंत जीते रहने के लिए, अपनी चेतना से मर्मस्पर्शी अभिव्यक्तियाँ करने के लिए, कवि को, सम्बद्धता अपनाकर प्रकृति और समाज की शरण में जाकर आगे भी जीते रहने और यथासम्भव अधिक समय तक बने रहने का उपक्रम करना पड़ता है। मैं भी यही कर रहा हूँ, लेकिन यह उपक्रम मैं उस तरह नहीं करता, जिस तरह दूसरे व्यक्ति करते हैं। मैं यह उपक्रम, किसी भौतिक लाभ को पाने के लिए नहीं करता। मेरा एकमात्र उद्देश्य यही रहता है कि मैं अनायास मौत की चपेट में न आ जाऊँ। इसीलिए, मैं, दीर्घजीवी पेड़ों को, धीर नीर से भरी-भरी प्रवाहित नदी को, तरल तरंगित हरहराते-घुड़दौड़ लगाते हिरनों की चौकड़ी भरते सागर को, चहचहाती चिड़ियों को, नित्य नया घोंसला बनाते-पंख पसारे उड़ते-आसमान चूमते पखेरुओं को, नित्य नूतन फसल उगाने वाले खेतों को- बैलों को, प्यार करता और अपनाता हूँ; और आत्मीय बना-बनाकर उन पर न्यौछावर होता हूँ। धरती की ममता जो मैंने पायी है, उसी के बल-बूते पर सूर्य से आँखें लड़ाता हूँ। शेषनाग से भी आतंकित नहीं होता। पाँच बार बरजोर महाकाल से भी बच निकला हूँ। मेरे घर में बाड़े के पेड़ निरन्तर पहरुओं की तरह सजग चौकसी करते रहते हैं कि मौत मेरे पास न आ सके। कविताएँ स्वयं, अक्षरों से बनी, अक्षर होती हैं, इसीलिए तो उन्हें लिख-लिखकर, अब तक मैं अक्षर जीवन जी सका हूँ और भविष्य में भी अभी और अभी और जिऊँगा।

बचपन से देखता चला आया हूँ कि बूढ़े हो रहे आम आदमी—यहाँ तक कि कर्मठ आदमी भी—शिथिल शरीर होकर, बिस्तर, पर पड़े-पड़े, या तो गुमसुम रहकर, जीवन की घड़ियाँ गिनते-गिनते, काल-कवलित हो जाते हैं या फिर हाय-हाय करते-करते आँसू बहाते, तिलझ-तिलझकर जल्दी प्राण त्याग देते हैं। एक भी ऐसा आदमी, मेरे देखने में नहीं आया जे अशक्त होकर

भी, खाट पर पड़े-पड़े बराबर सोचता रहे और प्रकृति और परिवेश को अपनी आत्मीयता प्रदान करता रहे और सबसे सम्बद्ध होता रहे। तभी तो ऐसे आदमी जल्दी ही अपने बनाये शून्य में कैद होकर, मर जाते हैं। सम्बद्धता का तात्पर्य यह होता है कि चेतना को जगाये रहो- और जागते रहो। अपनी मानसिकता को- मंद होती मानसिकता को, कुछ और समय तक, विलुप्त होने से बचाये रहो। मानसिकता तभी विलुप्त होती है, जब उससे काम नहीं लिया जाता। उसका प्रयोग या उपयोग करना ठप्प कर दिया जाता है। संसार को माया मानने वाले—उसे असार समझने वाले—तभी तो परम शक्ति यानी परमात्मा में लीन होने के लिए एकाकार होने के लिए—जीते हुए भी—प्राणों को ऊपर चढ़ाकर—समाधि ले लेते हैं और लौकिक से अलौकिक होकर, माया-मोह के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। वास्तव में ऐसी मुक्ति, चेतना-शून्य हो जाने की स्थिति के अतिरिक्त कुछ नहीं होती। इसी सत्य को दूसरी तरह से भी समझा जा सकता है। जब आदमी जन्म लेता है, तब वह अबोध होता है, नादान होता है। चेतना भी उसके पास नहीं होती। वह जीने लगता है—धीरे-धीरे चेतन होने लगता है—इंद्रिय-बोध से आगे बढ़ने लगता है और अनुभव करते-करते चेतना को अर्जित करते हुए जीवन जीने लगता है। वह तर्क-वितर्क करता है। वह जीवन-दर्शन प्राप्त करता है। वह सत्य-असत्य का विवेक-विवेचन करता है। वह मानव-जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य खोजता है। वह प्रकृति की संतान होकर भी उससे ऊपर उठकर, चेतना की सृष्टि करने लगता है और अपनी की हुई इस मानवीय सृष्टि से नव-निर्माण करते हुए, देश और काल के अवरोध को पार करता है और अपनी चेतन सृष्टि के द्वारा मर्त्य से अमर्त्य हो जाता है—समस्त मानवता का जीवन उसका जीवन हो जाता है। दूसरे शब्दों में, वह चेतना की सृष्टि को, मानवीय मूल्यों के बोध की सृष्टिको जीने लगता है। मैं इसी सृष्टि का चेतन मानव होकर—सम्बद्धता को प्राप्त करते-करते मौत से दूरतिदूर रहकर जी रहा हूँ। मुझे इस प्रकार से जीते रहने में सुख मिलता है। मैं, इसीलिए तो, अब चिरन्तन प्रकृति के साथ, अत्यंत आत्मीय ढंग से सम्बद्ध हो रहा हूँ और अपनी रचना में उसे ही व्यक्त कर रहा हूँ।

मैंने देखा है कि लोग पेड़ लगाते हैं, बाग-बगीचे लगाते हैं, उनकी रक्षा-सुरक्षा करते-कराते हैं। वे पशु-पक्षी भी पालते-पोसते हैं, बाड़ों में-पिंजड़ों में कैद करते हैं, दूध दुहते हैं, खेती-पाती का काम कराते हैं। तोता, तीतर, मैना, बुलबुल, बटेर, बत्तख, और मोर इत्यादि भी पालकर खुश होते हैं। ऊँट और हाथी भी व्यापारी लोग, धनी-मानी लोग पालते हैं। बरजिया घोड़े भी सवारी

के काम लाते हैं, वह अस्तबल में रखे जाते हैं। ऐसा बरसों-बरसों से चला आ रहा है। यहाँ तक कि शेर-चीते और हिरन भी सहवासी बनाये जाते हैं। परन्तु यह सब पालना-पोषना आत्मीय सम्बद्धता के अन्तर्गत नहीं आता। आत्मीय सम्बद्धता तो वह होती है जब आदमी, पशु-पक्षी, प्रकृति आदि की इकाइयों को अपनी आत्मीयता में लाकर, पूरी तरह से अपनी मानवीय चेतना देकर, उनकी आत्मीयता प्राप्त करता है। मैंने, शशक, कबूतर, बया (पक्षी) पेड़, नदी आदि को, अपनी मानवीय चेतना की आत्मीयता देकर अपना बनाया है और उनकी आत्मीयता (अस्तित्व की) प्राप्ति की है। इसीलिए मैं, इस उम्र में भी, इस तथाकथित असार संसार में, जीवंत जी रहा हूँ और अपने आपको महाकाल से बचाये हूँ। न गुमसुम रहा हूँ, न गुमसुम रहूँगा। न सुषुप्त हुआ हूँ, न चेतना से कटा शून्य में समाहित होता हूँ। मेरी अनेक कविताएँ, ऐसी ही सम्बद्धता की—मानवीय बोध की आत्मीय सृष्टियाँ हैं। यह सहज-साधारण लगने वाली कृतियाँ मेरी प्राणवंत कविताएँ हैं। मैं इनमें जीवित हूँ, इनसे बाहर भी जीवित हूँ, इन्हीं की बदौलत जीवित हूँ।

मैंने, बार-बार, अपने ज्ञानानुभव से यह प्रतिपादित किया है कि कविता की सृष्टि आदमी की चेतना करती है। चेतना की बनाई हुई इस काव्य-सृष्टि में, कवियों ने, न जाने कितना वस्तु-निष्ठ और आत्म-निष्ठ सत्य बिम्बित और रूपांकित किया है कि कविता का भंडार अक्षय और समृद्ध-से-समृद्धतर होता गया है। इस भंडार को देखते ही बनता है, आश्चर्य से चकित रह जाना पड़ता है। मैंने भी अपनी कविताओं से, इस काव्य-भंडार की श्री-वृद्धि की है। इसका मुझे एहसास है। मैंने छोटी कविताएँ लिखकर इस एहसास का पूरा-पूरा फायदा उठाया है।

इस संकलन की पहली कविता है तो केवल चार चरणों की, किन्तु इस चार चरणों में मैंने अपने देश की वर्तमान स्थिति का बोध कराया है। कौआ एक पक्षी है। हर गाँव और शहर में 'काँव-काँव' करते पाया जाता है, काला कलूटा है, और किसी प्रकार से मन को नहीं मोहता। पहले, राम के युग में, इसी ने तो सीताजी को चोंच मारी थी। ऐसी मान्यता, तब से अब तक, प्रचलित चली आती है। विडम्बना यह है कि इसे तो दाल-भात खाने को मिलता है। परन्तु, आदमी को, दाल-भात नसीब नहीं होता। इसके विपरीत, 'हौआ'—डर—आतंक आदमी को खाये डालता है। और नेता भी, आज के युग के, नाक कटाये, पैसे-पर-पैसा यानी धन-ही-धन बटोरते रहते हैं और जनता भी ऐसी है कि ऐसे ही नेता को, पतंग की तरह, आसमान में चढ़ाये रहती है। न कटने वाली पतंग बनाये सुरक्षित रखती है। ऐसी भयावह स्थिति

का बिम्बन करना और इस यथार्थ को प्रमुखता के साथ सबके सामने लाने का काम, मेरी चेतना की इस अभिव्यक्ति ने किया। कम शब्दों में अत्यन्त सफल मार्मिक मार की यह कविता सामयिक संदर्भ की है। आज के इस दौर के इतिहास को, इससे बेहतर ढंग से, व्यक्त कर सकना असम्भव था। ऐसी कहकर में अपनी तारीफ नहीं कर रहा—न अपने मुँह मियाँ मिट्टू बन रहा हूँ। मुझे, यह सत्य, मेरी चेतना से मिला। इसी सत्य को, मैंने, कविता का अस्तित्व दिया और मानवीय मूल्यों के बोध के क्षितिज को खोला।

मैंने, सुरक्षा के लिए, गाँव-शहर में, सरकार द्वारा नियुक्त किये गये कर्मचारियों द्वारा मनमानी ढंग से, दूसरों की जान लेने के समाचार, अखबारों में छपकर आये, कई बार पढ़े हैं और मर्माहत हुआ हूँ। इसकी अभिव्यक्ति करने का जोखिम भी भुगतना होता है। मैंने यह जानते हुए भी, इस सत्य को अपनी कविता में व्यक्त किया। किन्तु मेरी यह कविता, शब्दों से, शिल्प से, अनुशासित है। यह तड़ातड़ मार की, हत्या-छाप की रचना नहीं है कि जो पढ़े-सुने, तड़ाक से मरने-मारने को तैयार हो जाय। मैं, कविता लिखता ही इसीलिए हूँ कि जो उसे पढ़े, सुने, उसकी सोच-समझ सुधरे और वह अमानवीय करनी करने वाले का खूँखार रूप पहचाने—उसे वह सच्चा न मानकर, आदमी की चाँदमारी करने वाला, शासकीय तंत्र का अलोकतंत्रीय व्यवहारी जाने, ऐसी, रक्त की प्यासी, सत्ता को समर्थन देना बंद करे। स्वभाव और स्वरूप से अनावेशी यह कविता मानवीय बोध को, पाठक के हृदय में, निरंतर जीवित रखेगी और राजनीतिक नक्शेबाजी से बार-बार बचायेगी।

कठफोड़वा को गाँव के प्रत्येक व्यक्ति ने देखा है। नगर-निवासी भी, कई ऐसे मिल जायेंगे जिन्होंने इस पक्षी को, आसपास की जमीन पर, अफसर की तरह, शान से कदम बढ़ाते देखा है। मैंने भी, लड़कपन में इसे देखा-ही देखा था, तब इसे मैं अपना न सका था। खेल-कूद के तरह-तरह के अन्य आकर्षण भी बहुत-बहुत थे—अब इस बुढ़ौती के दौर में, असमर्थ और असक्त होकर, घर के कमरे में ही अकेले पड़े-पड़े दिन गुजारता हूँ। ऐसे समय में, यह पक्षी भी, अपनी शिल्प सँवारी रंगीन देह से जब पाँव-पाँव, किरिटी सिर उठाये, ठाठ से चलता है, तब मैं, इसे अपना आत्मीय बना लेता हूँ। यह, मेरे लिए, शिल्प-सँवारा छंद देकर उड़ तो जाता है, परन्तु मन से कभी नहीं उड़ पाता और मैं इसे भाषा-भाषी बना लेता हूँ। इस प्रकार अपने एकाकीपन को दूर कर कविता करने के लिए उल्लास से जीता रहता हूँ। मैं उन लोगों की तरह नहीं हूँ जो बुढ़ौती के दिनों में जीते रहने के लिए इस प्यारे पक्षी को अपना आत्मीय नहीं बनाते। इससे तो मैंने अपनी कविता के

लिए छंद पाया, मनमोहक शिल्प पाया और भाषा की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य पायी। वास्तव में ऐसे सम्बद्ध होकर ही, कवि, अपने को कुछ और समय तक जिलाये रख सकता है।

आज की, आधुनिक रहन-सहन की व्यवस्था में, जहाँ जीवन जीने की अच्छी तरह रहने की सुविधाएँ सुलभ हुई हैं, वहीं गर्त में गिरने की—पतन की ओर जाने की छूट भी प्राप्त हुई है। युवतियाँ, अनुभवहीन होने की वजह से, अक्सर युवकों के चक्कर-मक्कर में पड़कर अपना चरित्र भ्रष्ट कर लेती हैं। इसी सत्य को मैंने, बड़े संयत और शिष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। युवती की चंचलता और चपलता को मैंने बिजली कहा—काँच की चूड़ी कहा और कलाई पर चढ़ाकर खनखना दिया। परिणति हुई काम-कुंड में उसके डूब जाने की। इस संबंध में, इससे और सुंदर ढंग से, नहीं कहा जा सकता था। यह भ्रष्ट चरित्र की पहली थी, जो मैंने इस प्रकार व्यक्त करके सुलझा ली। यह कविता, विवरण न होकर, चेतना की बनाई हुई सृष्टि है।

शशक हो हरी घास पर मौन बैठे देखा तो मुझे लगा कि वह मेरी कविता बन गया है। उसका मौन, मौन न रहकर, भाषा में लिखी रचना बन गया है। उसे देखकर मन मुग्ध हो गया, जैसे कविता पढ़कर हुआ हो। इसी तरह, एक दिन, आँगन में उड़कर आये कबूतर को देखकर, भाव-विभोर होकर अपनापा भूल गया और उसकी गुटरगूँ को, मैं अपनी प्राणवंत अनुरक्ति की अर्थवंत अभिव्यक्ति ही मान बैठा। ऐसी सघन सम्बद्धता की स्थिति में बने रहना ही तो जीवन को जीते रहना है—‘न होने’ से बचे रहना है—‘होने’ में जीते रहना है।

लेकिन, सघन और सार्थक सम्बद्धता को, चिंतनपरक अवश्य बनाये रहना चाहिए, तभी तो व्याप्त भ्रम और भ्रांतियों के उन्मूलन में, उससे सहायता ली जानी चाहिए। मैं इसी विचार का हूँ। नीलकंठ नाम के पक्षी को लेकर मैंने उससे संबंधित इस अवधारणा का खंडन किया है कि वह पूज्य है और शिव का प्रतिरूप है और उसके दर्शन से घर बैठे गंगा-स्नान का पुण्य-लाभ होता है। अंधविश्वास को ध्वंस करना भी, जीवंत जीने की क्रिया है।

एक और कविता का उल्लेख इसी सम्बद्धता के सिलसिले में, करना परमावश्यक समझता हूँ। उसकी पहली पंक्ति है : ‘धरती घूर्मी, छिपा ओट में सूरज।’ यह मेरी उस गहरी मानव-बोधी जीवंतता को व्यक्त करती है, जिसकी वजह से, मैं इस उम्र में भी, जवान की तरह, सोते में भी, अपने दैनिक जीवन की भरपूर मनमोहक कार्य-कलापी झाँकी देखता हूँ और आयुष्मान हुआ कुलकता हूँ और और भविष्य में भी, ऐसी जीते रहने की तीव्रतम लालसा रखता हूँ। यही तो है मृत्यु पर मेरे जीवन के जय की घोषणा।

लेनिन का 'संज्ञान का सिद्धान्त' मुझे, आदमी बनकर, यथार्थ की दुनिया में जीते रहने की दिशा और दृष्टि देता रहा और अब भी, मैं, उसके सहारे, सत्यदर्शी बनकर, अन्तर्विरोधों और अवरोधों को तोड़ता रहता हूँ और अपने मानवीय बोध को महान मूल्यों के स्तर तक पहुँचाता रहता हूँ। मैं, लेनिन को, मानव जाति का, महान नेता मानता हूँ। मेरे अतिरिक्त भी तो वह विश्व की महान, अमर हस्तियों में अग्रणी गिने जाते हैं। जब, मैंने, समाचार पढ़ा कि वहाँ, उनके ही देश में, उनकी प्रतिमा को, तोड़ दिया गया तो मुझे मानसिक आघात लगा। परन्तु यह आघात क्षणिक रहा। मैंने विचार किया और निष्कर्ष यह निकाला कि महापुरुष तो पहले ही, दिवंगत होकर, पंच महाभूत तत्व बन चुके हैं—अब उनकी प्रतिमा को तोड़कर, कोई भी उन्हें अमर्त्य से मर्त्य नहीं बना सकता। यह तो पागलपन की पराकाष्ठा की अभिव्यक्ति मात्र है। मेरी लेनिन से संबंधित सम्बद्धता पूर्ववत् बनी रही और मैं आज तक, उन्हें अपना आत्मीय बनाये सत्य संवेदित होता हूँ और सत्य को ही सम्प्रेषित करता हूँ। इस नये संकलन में मेरी वह कविता है जो, मैंने, दिनांक 21-1-91 को, लेनिन पर लिखी थी। वह आज तक, मुझे उसी मानसिकता का बनाये है और मैं लेनिन को हृदय से लगाये जी रहा हूँ। आदमी के जीवन को, कविता की इसी भूमिका से, महत्ता और महत्व की उपलब्धि प्राप्त होती है।

श्री अशोक बाजपेयी की एक कविता का आंशिक उद्धरण, 'साक्षात्कार' पत्रिका के अक्टूबर-दिसम्बर सन् 1990 के अंक में छपा है। यह उद्धरण, 'खजुराहो' की मूर्तियों को देखकर लिखी गई कविता का अंश है। मैंने भी वहाँ के मंदिरों को पहले देखा था। वहाँ की प्रतिमाओं को बड़े चाव से जी भरकर निहारा था। प्रभावित होकर, तभी अपनी कविता—खजुराहो के मन्दिर पर लिखी थी। वह कविता, मेरे काव्य-संकलन—फूल नहीं रंग बोलते हैं—में प्रकाशित हुई थी। अशोक बाजपेयी की कविता के उद्धृत अंश की पंक्तियों को पढ़ने पर लगा कि मूर्तियाँ, कलाकृतियाँ होकर भी, अशोकजी को कला कृतियाँ नहीं प्रतीत हुईं। वे पत्थर की बनीं तो, पर उनकी पाषाणी देह अंत तक पाषाणी ही बनी रही, कलाकार की शिल्प सँवारी, अनुपम, मनमोहिनी, मानवीय छवियाँ न हुईं—न हुईं। उद्धरण पढ़कर मैं स्तब्ध हुआ। कुछ देर सोच में पड़ा, फिर मेरी जो प्रतिक्रिया हुई, उसे मैंने अपनी इस कविता में व्यक्त किया। बाजपेयी जी की अभिव्यक्ति, पूरी तरह से, कलात्मक सृष्टि को न करने वाली, उत्तर आधुनिकता के खोखलेपन को बिम्बित करती है। यह सब क्रियाएँ, जो बाजपेयीजी ने, पत्थर से पत्थर के लिए करवायी हैं, आदमी-औरत की की हुई क्रियाएँ हैं। फिर, वह क्रियाएँ करने वाली मूर्तियाँ पत्थर तो

रह ही नहीं सकतीं। इन मूर्तियों से, मैं, तब, पहले, सम्बद्ध हुआ था और अब तक, उसी आत्मीयता से सम्बद्ध हूँ। मेरी आत्मीय सम्बद्धता में कोई कमी नहीं आई। मैं इसी सम्बद्धता को जीवन की आत्मीय उपलब्धि मानता हूँ। यह उपलब्धि कालजयी होती है। अशोक बाजपेयी की इस मनोवृत्ति को मैं सही नहीं मानता। इसलिए इसे अस्वीकार करता हूँ... मेरी कविता, मेरे इस दृष्टिकोण को व्यक्त करती है।

यही नहीं—इतना ही नहीं—और भी विस्तार से सोचने पर, बाजपेयीजी के ऐसे चिंतन के बहुआयामी परिणाम निकलते हैं। भारत के देवालियों में स्थापित सभी देवी-देवताओं की मूर्तियों को मात्र पत्थर मानकर—जीवन के चेतन-चिंतन परक विकास-क्रम को, अस्वीकार कर देना पड़ेगा। ऐसा करना कदापि, किसी भी दृष्टि से, न्याय-संगत न होगा। चेतना को अर्जित करते-करते ही तो आदमी पशु से—प्रकृति की संतान की प्रवृत्तियों से, बाहर निकलकर, ऊपर उठकर, ज्ञानी-विज्ञानी, दार्शनिक-रागी-विरागी-अनुरागी-त्यागी-तपसी-सन्यासी-रहस्य-भेदी—आकाश-गामी—अंतरिक्ष-भेदी—पाताल-भेदी—सिंधु-मंथक—भ्रम-भंजक और सत्य संस्थापक बन सका है और देश-काल को मानवीय मूल्यों का अस्तित्व प्रदान कर रहा है।

अंतःकरण के बारे में—आत्मा के बारे में—जो मान्य प्रचलित अवधारणा है, वह यह है कि आदमी जब पैदा होता है तभी वह 'पूर्ण-विकसित' अंतःकरण लिये-लिये पैदा होता है। उसे वह जीवन-भर उसी-उसी विकसित रूप में लिए रहता है और उसी के इस विकसित रूप को प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है। ऐसा ही अंतःकरण प्रत्येक मानव के पास होता है और वह भी उसी को प्राप्त करने में, ताउम्र, लगा रहता है। यह आवश्यक नहीं है कि आदमियों में सब आदमी इस पूर्ण विकसित अंतःकरण को पा ही लें। इस पूर्ण विकसित अंतःकरण को तो वही पहुँचे हुए—पारंगत आदमी पाते हैं जो बिरले साधक होते हैं। इसी अंतःकरण को आत्मा की संज्ञा भी दी जाती है, और उसको भी अंतःकरण की तरह का स्वीकार किया जाता है। और सभी लोग यह भी मानते हैं कि पूर्ण विकसित अंतःकरण—पूर्णत्व प्राप्त आत्मा—केवल अवतारी महापुरुष के पास होती है और वह उससे ही प्रेरित होता और उसके अनुरूप ही जीवन जीता है। दूसरे आदमी भी उसी के दिखाये और सुझाये पथ पर चलने का प्रयास करते हैं। मैं हूँ कि मैं ऐसा नहीं मानता। मैं तो अपने वैज्ञानिक बोध के इस सत्य को स्वीकार करता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-पर्यंत अपनी प्राकृतिक क्षमता को, जैविकी बोध से निकालकर, मानवीय बोध के चिंतन और सत्य के विकसित होते जा रहे

स्वरूप और स्वभाव का बनाते रहना होगा। समय चाहे जो लगे, युग चाहे जितने बीतें, यह अंतःकरणी विकास का क्रम, कभी ठप्प नहीं होगा, निरंतर आगे ही आगे बढ़ता रहेगा। मैं, आत्मा की कोई अलग इकाई नहीं मानता, जो अंतःकरण से भिन्न हो, परे हो। अपनी अंतःकरण वाली, कविता में, मैंने इसी विचार-बोध को व्यंजित किया है।

शमशेर मेरे सहपाठी रहे हैं, बी० ए० में। मेरे मित्र हैं। पहले भी, उनकी काव्य-मानसिकता को लेकर, एक कविता लिखी थी। वह 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' में छपी थी। फिर, उनका काव्य-संकलन—'चुका भी हूँ नहीं मैं' पढ़ने को मिला। पढ़ने पर जो मेरी प्रतिक्रिया हुई उसे मैंने, दिनांक 30-8-75 को लिखी अपनी कविता में व्यक्त किया। वह कविता भी इस संकलन में है। इसी तरह जब मैंने श्रीमती कान्ता का काव्य-संकलन—'समयातीत' पढ़ा तो मैंने, दिनांक 3-11-83 ई० को एक कविता लिखी। इस कविता को मैंने, दिनांक 20-12-90 ई० को, दुबारा लिखा। यह कविता भी इस संकलन में दे रहा हूँ। इन दोनों की काव्य-मानसिकता एक-दूसरे से भिन्न है। दोनों ही अपनी-अपनी तरह की रचनाएँ करते हैं। इन दोनों से भिन्न, मेरी काव्य-मानसिकता है। इस अंतर को जान लेना अत्यावश्यक है, ताकि मुझे, कवि के रूप में, अलग से परखकर, इस बात की जाँच-पड़ताल की जा सके कि कैसे-कैसे जीवन के अपने-अपने संदर्भ में जीते हुए क्या-क्या, कैसा-कैसा कृतित्व करता है प्रत्येक कवि, और ऐसी भिन्नता के क्या कारण होते हैं। प्रत्येक कवि, अपने कृतित्व से, अपनी कविता के द्वारा, हिन्दी की कविता का कितना विकास कर सका है, इस तथ्य से भी अवगत हुआ जा सके।

कविता क्या है? मैंने उसे किस तरह की भाषा में पाया और किस तरह के स्वर और स्वभाव की होने की वजह से अपनाया, इस जानकारी के लिए, मैंने इस संकलन में कई कविताएँ दी हैं। इनके अतिरिक्त भी, जो अन्य कविताएँ हैं उनसे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता चेतना की रची हुई सृष्टि होती है। विवरण-मात्र, बिम्बन-मात्र, आलोचना-मात्र, जीवन-दर्शन-मात्र, संस्पर्शी-मात्र, नीतिपरक-मात्र प्रवचन या उपदेश नहीं होती। वह एक संश्लिष्ट इकाई होती है। मैंने प्रयास तो यही किया है कि जीवन का सत्य, रचनात्मक सत्य बनकर कविता बन जाए। मेरी आत्म-प्रसार की कविता दूसरों के आत्म-प्रसार की कविता बन जाए। मैं नहीं कह सकता कि इसमें मुझे सफलता मिली तो कितनी मिली और वह भी स्वीकार योग्य बनी या नहीं बनी; बनी तो कितनी स्वीकार के योग्य है और नहीं बनी, तो सर्वथा त्याज्य के योग्य कितनी है।

मैंने पास पहुँचकर अमलतास के फूले पेड़ को देखा, उसे देखते ही मुझे 'निराला' जी की एक पंक्ति—'हेमहार अमलतास'—तत्काल याद आ गई। याद आते ही वह पेड़ पेड़ न रहा, मेरे सामने खड़े हुए 'निराला' जी दिखाई दिए। मैंने उन्हें नमन किया और उनके कृतित्व की छटा और छंद को पुनः पाकर अभिभूत हो गया। मैंने तत्काल वह कविता रची जो इस संकलन में है। पेड़ महाकवि हो गया। पेड़ पेड़ न रह गया, जड़ता चेतना बन गई। मैं समझता हूँ कि वही कविता अच्छी कविता होती है, जो जड़ को चेतन कर देती है और प्रकृति और पुरुष को एक कर देती है। मैं इसे अपनी उपलब्धि मानता हूँ।

इस बार देश की राज-सत्ता में कहीं-कहीं अलौकिकता के मुखापेक्षी प्रभुत्व में आ गए, फिर क्या था। वही हुआ जो होना था। इन नयों ने, पहले से स्थापित चली आ रही लौकिकता पर अपनी अलौकिकता का आरोपण-अभियान प्रारम्भ कर दिया। प्रच्छन्न साम्प्रदायिकता धर्म-ध्वजा-धारियों की आड़ में प्रसारित होने लगी और शांति और अशांति का भेद मिटाया जाने लगा। मैंने ऐसा होते देखा और क्षुब्ध हुआ। मैंने अपने क्षोभ को अपनी कविता में व्यक्त किया। वह कविता भी इस संकलन में है। जो देखा, सुना, और समझा। उसी की अभिव्यक्ति यह कविता है।

गए दिनों में, गोर्वाचोव, अपने पद से हटाए गए और उनके देश में, कम्युनिज्म और कम्युनिस्टों का आधिपत्य समाप्त किया गया। रूसी राजनीति में आमूलचूल परिवर्तन किया गया। अब वहाँ हर तरह का विघटन होने लगा। अब नासमझ लोग जोर-जोर से यह प्रचार करने लगे कि अब मार्क्सवाद सदा-सदा के लिए मर गया। मैं इससे प्रचार से प्रभावित नहीं हुआ। मैं ऐसे जीवन-दर्शन को चिर विकासमान मानता हूँ और इसे मर्त्य कतई नहीं मानता। रूस में, मार्क्सवादी सरकार का जो पतन हुआ, वह वहाँ के भ्रष्ट पार्टी कार्यकर्ताओं और उसी तरह के शासन-तंत्र के चालू करने वालों की वजह से हुआ। वह मानवीय बोध का—वैज्ञानिक बोध का—देश-काल को उसी बोध का बनाकर जीवन को उत्तरोत्तर विकसित करते हुए, विश्व-बंधुत्व की स्थापना का सिद्धान्त है—सर्वश्रेष्ठ जीवन-दर्शन है। मैं इसी विचार का हूँ, इसीलिए इस संदर्भ को लेकर मैंने जो कविता रची वह भी इस संकलन में छपी है। वह रचना छद्म विचार का खंडन करती है और सत्य को सार्थक समर्थन देती है।

अन्त में वह कविता है जो, मैंने पाश्चात्य नृत्य-संगीत का कार्यक्रम टी० वी० में देखने के बाद लिखी थी। मुझे तो वह मांसपेशियों और हड्डियों के

उछलने-कूदने और चीखने-चिल्लाने का अप्रिय कर्ण-कटु कार्यक्रम लगा था। तीव्र प्रतिक्रिया की मेरी वह कविता दूसरों को सोचने के लिए विवश करेगी।

आशा करता हूँ कि पाठक इन कविताओं को पढ़कर अपना आत्म-प्रसार भी मेरे आत्म-प्रसार की तरह करेंगे और हिन्दी कविता को अपने हृदय में जीवित और जीवंत रखेंगे।

अंत में अपने आत्मीयजनों और हितैषियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनसे मुझे बल मिलता है। अपने नगर के सर्वश्री रामप्यारे राय, एहसान आवारा, नरेन्द्र पुण्डरीक, श्रीमती मनोरमा अग्रवाल, बी० के० राय, जयकांत शर्मा, आनन्द सिन्हा, जगतनारायण शास्त्री, पूरनलाल अग्रवाल, शिवशरण गुप्ता, कौशल किशोर गुप्ता, रामेश्वर भाई, ओम बाबू, विश्वप्रकाश सिन्हा, नीलू, रामविशाल सिंह, चन्द्रपाल कश्यप और रामसजीवन पांडे आदि के प्रति आभारी हूँ।

इलाहाबाद के शुभचिंतकों में, डा० आशा गुप्त, बालकृष्ण पांडेय, डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, ओंकार शरद, डॉ० विजय अग्रवाल, राधारमण अग्रवाल तथा योगेश अग्रवाल के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

अपने भतीजों का भी आभारी हूँ कि ये मुझे हर तरह की सुविधा प्रदान करने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहते हैं।

अपने एकमात्र प्रकाशक श्री शिवकुमार सहाय को तो मैं हमेशा ही याद करता रहता हूँ साथ ही अशोक त्रिपाठी को भी। इम्पैक्ट के श्री राधेश्याम जी मेरी पुस्तकों को सजा सँवारकर प्रस्तुत करते हैं, उसे कलात्मक बनाते हैं। मैं उन्हें भी स्नेह के साथ स्मरण करता हूँ।

मद्रास

– केदारनाथ अग्रवाल

दिनांक : 25-3-92 ई०

दाल-भात खाता है कौआ

दाल-भात खाता है कौआ
मनुष्य को खाता है हौआ
नकटा है नेता धनखौआ
न कटा हो मानो कनकौआ

21-1-1969

कैद है आदमी का सूरज

कैद है
आदमी का सूरज
आदमी की कोठरी में,
आदमी के साथ।

न देश-बोध होता है जहाँ-
न काल-बोध,
न कर्म-बोध होता है जहाँ-
न सृष्टि-बोध।

न आदमी रहता है
जहाँ आदमी,
न सूरज रहता है
जहाँ सूरज,
हविष्य होते हैं जहाँ दोनों-
आदमी और सूरज
कपाट बंद कोठरी में।

14-10-1969

तुमने गाये-गीत गुँजाये¹

तुमने गाये-
गीत गुँजाये
पुरुष हृदय के
कामदेव के काव्य-कंठ से
उमड़े-घुमड़े;
झूमे, बरसे
तुम शब्दों में स्वयं समाये,
चपला को उर-अंक लगाये,
चले
छंद की चाल, सोम-रस पिये-पिलाये,
ज्वार तुम्हारे गीतों का ही
ज्वार जवानी का
बन जाता,
नर-नारी को
रख निमग्नकर,
एक देह कर
एक प्राण कर,
प्यार-प्यार से दिव्य बनाता।

15-7-1973

1. डॉ० हरिवंशराय 'बच्चन' को बाँदा में सुनकर।

खेल-खेल में उड़ा

खेल-खेल में उड़ा,
पहुँचा-
फट गया-
आकाश में
रंगीन गुब्बारा खुशी का।

जिसने
उड़ाया
आकाश में पहुँचाया
वह हुआ
फिर
गरीब बाप का
गरीब बेटा-
दुःख-दर्द का चहेटा।

18-12-1979

दिक्काल का भोक्ता अहं

दिक्-काल का भोक्ता अहं
जब
निजत्व की इकाई होकर,
दिक्-काल का निषेध कर,
खोखली आत्मवत्ता में
स्वयं समाया होता है
तब वह
नवाचारी होकर—
अनाचारी होकर—
मानवीय बोध से
वंचित और विरत होता है
विशाल वटवृक्ष से
टूटकर गिरा पत्ता होता है,
निरवलम्ब होता है,
इधर-से-उधर—
दिशा दृष्टिहीन
उड़ने-भटकने को
मजबूर होता है।

6-1-1980

गाँव की सड़क

गाँव की सड़क
शहर को जाती है,
शहर छोड़कर
जब गाँव
वापस आती है
तब भी
गाँव रहता है वही गाँव,
काँव-काँव करते कौओं का गाँव ।

10-1-1980

उनको महल-मकानी

उनको
महल-मकानी
हमको छप्पर-छानी

उनको
दाम-दुकानी
हमको कौड़ी कानी

सच है
यही कहानी
सबकी जानी-मानी

11-1-1980 / 11-6-1990

सभी तो लड़ते हैं

सभी तो
लड़ते हैं
लड़ाइयाँ
अस्तित्व की
व्यक्तित्व की
अभिव्यक्ति की
इससे
उससे
हमसे
तुमसे
शब्द
और अशब्द से
अर्थ और अनर्थ से
तुरीय
और सुषुप्ति से
आदमी होने के लिए
अमर्त्य
जीने के लिए।

27-1-1980

देने को तो सब देते हैं

देने को तो सब देते हैं
लेकिन
देते-देते भी तो
थोड़े से भी थोड़ा देते
इस देने को
ज्यादा देना कहते
पूरी तुष्टि
इसी से गहते
ये-जो देते-
सच से कभी न चेतें-
सच की नाव न खेतें,
हेर-फेर कर
दाँव-पेंच से जीते ।

10-12-1981

मौत को साधे शब्द¹

मौत को साधे शब्द
अंतरंग से बाहर
यथार्थ की दुनिया में
आये, अकुलाये
सर्वत्र टकराये।
भोगते-भोगते
देश-काल की विसंगतियाँ;
न सच तक पहुँच पाये,
न असत्य को उखाड़ पाये;
न वर पाये
वरेण्य मानवीय बोध;
न कर पाये
अपना या दूसरों का शोध-
दहन-दाह के प्रतिकूल-
आत्म-प्रसार के अनुकूल;
बस,
झाँकते शब्द झाँकते रहे-
बुदबुदाते शब्द बुदबुदाते रहे-
काल से कवलित होते-होते
दृश्य से अदृश्य में
विगलित होते शब्द
होते रहे अशब्द।

3-11-1983 / 20-12-1990

1. स्वर्गीया श्रीमती कान्ता का काव्य संकलन 'समयातीत' पढ़कर

वह न रहा मेरे पास

वह न रहा मेरे पास जिसे होना चाहिए मेरे पास
वह न रहा आपके पास जिसे होना चाहिए
आपके पास
वह न रहा समाज के पास जिसे होना चाहिए
समाज के पास
बात ही ऐसी हुई कि मैं-आप और समाज
ज्ञान गुन-गौरव से, गरिमा से वंचित होते-होते,
अनिवार्यताओं से विमुख होते चले गये-
अनावश्यकताओं से चुम्बकित होते चले गये,
समता के स्थान पर
विषमता के फेर में पड़े-पड़े
चरित्र की चाल में हम सब तीनों-
डगर-डगर डगमगाते चलते चले गये,
न्याय के नाम पर अन्याय की
उपलब्धियाँ उपार्जित करते चले गए,
भरण-पोषण के लिये
तुच्छातितुच्छ अपहरण की
अवतारणा करते चले गये,
गुनाह के प्रवाह में प्रवाहित होते-होते
गुमराह होते-होते चले गये
अस्तित्व में अनस्तित्व का
अभियान ही अभियान
आयोजित करते चले गये।

30-5-1986

बाँस की बंशी बजाती

बाँस की
बंशी बजाती
गेहुँओं के गीत गाती—

मोदमाती
यह मही है,
प्यार जो करती सभी को ।

8-10-1986

कविता जो न सार्थक हो

कविता
जो न सार्थक हो—
न सटीक हो—
न बोधक हो—
न बेधक हो
मैं नहीं लिखता
ऐसी कविता
जो न
आदमी के पहिचान की हो
न सत्यालोकित संज्ञान की हो।

9-3-1990

देता भी तो क्या देता मैं तुमको

देता भी तो क्या देता मैं तुमको
प्यार-प्यार ही तो
मैं देता तुमको
वही दिया है-
मैंने तुमको, वरण किया है

आत्म-समर्पित होकर मैंने
सही किया है
बाहु-पाश में
तुम्हें बाँधकर
जीने का सुख लूट लिया है

30-5-1986

गिरे तो गिरते गए

गिरे तो
गिरते गये
गिरते-गिरते
आचार से
विचार से गिरते गये
न हुए अपने
न और के,
वनमानुष हुए कुठौर के।

9-2-1990

न घटा जो यहाँ कभी पहले

न घटा
जो यहाँ
कभी पहले
अब तो घटा—
नवाचार के नाम पर,
आदमी से आदमी कटा,
लोकतंत्र का
चोला फटा।

9-2-1990

चित्त होते हारते चले जाते हैं

चित्त होते
हारते चले जाते हैं—
एक-से-एक
पुरन्दर पहलवान,
अपने ही अखाड़े में
अपने नौसिखियों से,
अपने
दाँव-पेंच से
पछाड़े गये।

9-2-1990

किताब में लिखे तुम

किताब में लिखे तुम,
बड़े अच्छे लगते हो कविवर !

किताब से बाहर,
पेट में पलस्टर लगाये,
अस्पताल में दाखिल
बीमार दिखते हो तुम,
कविवर !

अस्पताल से बाहर,
अस्तित्व को पाने के लिए,
सम्प्रेषण कर पाने के लिए,
जी-जान से कुलकते
बड़े जीवंत
दिखते हो तुम,
कविवर !

19-9-1990

अब

अब,
सच के
पास से भी पास
पहुँच तो गये आप,
पर हट गए आप
कट गये,
आप ।

अब,
झूठ के
पास से भी पास
पहुँच गये आप,
और प्रिय हो गये आप,
झूठ के वफादार हो गए आप,

अब,
झूठ का डंका बजाते हैं आप
ढम-ढमाढम,
झूठ का झंडा उड़ाते हैं
सन सनासन ।

23-2-1990

गये तुम भी¹

गये
तुम भी,
गये जैसे और—
सृजन के
सिरमौर ।

शाम सोये,
रहे सोये;
नहीं
देखी भोर ।

23-2-1990

¹ श्री अमृतलाल नागर के निधन पर

उड़ी आई

उड़ी
आई,
प्यार का अवलम्ब देकर—
चहचहाई ।

गई,
ऊपर
मुझे तजकर;
हुई ओझल,
पुनः वापस नहीं आई—
प्यार का अवलम्ब लेकर ।

मैं,
बिना उसके
उसे अब भी जिलाये,
प्यार का अवलम्ब पाये,
जी रहा हूँ
जिंदगी को
जगमगाये ।

4-3-1990

देह-दण्ड

देह-दण्ड
मैं भोग रहा हूँ,
फिर भी,
अपने
पुष्ट प्राण से,
स्वागत करता हूँ—
कहता हूँ;
आयें,
बैठें,
मुझे सुनायें—
नई-नई
अपनी
रचनाएँ,
मुझे रिझायें,
देह-दण्ड की
व्यथा मिटायें।

1-4-1990

अब पहरुये

अब
पहरुये
आदमी की
चाँदमारी
करते हैं,
सत्ता का कुण्ड
आदमियों के रक्त से भरते हैं।

2-9-1990

जब जो मैंने कहा

जब
जो
मैंने कहा
न बनकर कहा
न बिककर कहा;
तह में पहुँचकर,
बहाव में बहते-बहते
देर तक बहा,
तब खोजकर जो गहा,
शब्दार्थ में गूँथकर,
रचनाओं के रूप में कहा—
चेतन सृष्टि का कर्ता हुआ
अमानवीय बोध का हर्ता हुआ।

व्यक्तित्व जो मैंने गढ़ा,
जीने की लड़ाई में गढ़ा,
आगे ही आगे बढ़कर गढ़ा,
सच के साथ जुड़कर गढ़ा;
न भीरु हुआ मैं
न भयक्रांत हुआ मैं;
द्वन्द्व में निर्द्वन्द्व जिया मैं,
प्राणों से पुष्ट हुआ मैं।

4-10-1990

निरंतर बना रहेगा

निरनंतर बना रहेगा
जीवंत और विकासमान
ऐतिहासिक
द्वन्द्वात्मक
भौतिकवाद ।
नासमझ हैं वे
जो समझते हैं इसे मरा हुआ
कुटिल काल से कवलित हुआ ।
यही है, यही है
महान मानवीय मूल्यों का
परम वैज्ञानिक बोध का बोधक
चिरंतन और चिरायु चेतना से
सृष्टि का शोधक ।
शेष जो वाद-ही-वाद हैं—
जैसे आत्मवाद,
परमात्मवाद, अध्यात्मवाद,
और भी कई-कई वाद—
निरर्थक हो चुके हैं सब
महान मानवीय मूल्यों के लिए,
सभ्य और सांस्कृतिक
विकास के लिए
विश्वबंधुत्व के लिए ।

4-10-1990

सुबह से शाम तक

सुबह से शाम तक
पानी की
प्रलम्ब प्रवाहित देह
प्रकाश-ही-प्रकाश पीती है
न रात में सोती-
न रोती है,
उच्छल तरंगित होती है;
न सूखी,
न रीती,
जीवंत जीती है।

केन है केन!
प्रवाहित प्यार की-
मेरी नदी केन,
मेरे आत्म-प्रसार की
मेरी नदी केन!

22-12-1990

घना कोहरा

घना कोहरा,
छिपा सूरज,
गगन ओझल,
धरा धूमिल,
खड़े खोये पेड़-पौधे,
हवा गुमसुम

किंतु,
अब भी,
शब्द-शाला में प्रदीपित
अर्थमाला
सोहती है—
मोहती है—
छंद से छल-छंद छाया
मोचती है,
काव्य की
अभिव्यक्तियों से
भेद भव का खोलती है।

21-12-1990

लेनिन

लेनिन
एक व्यक्ति था पहले,
नामों में एक नाम था पहले,
सबकी जबान पर चढ़ा।

लेनिन
अब हो चुका है
अवनी और आकाश—
पवन-पानी और प्रकाश।

लेनिन
नहीं है—नहीं है
पत्थर की एक मूर्ति,
तोड़ दे जिसे कोई

लेनिन
नहीं है—नहीं है
रेखांकित एक चित्र,
फाड़ दे जिसे कोई।

लेनिन
सूर्य है सूर्य
सत्य की रश्मियों का
सूर्य,
असत्य को भेद रहा
सूर्य!

21-1-1991

मरना होगा

मरना होगा
इस होने को तो होना है
लेकिन
तब तक
इस जीने को तो जीना है

जीते-जीते
हर संकट से
डटकर क्षण-क्षण
तो लड़ना है

लड़ते-लड़ते
आगे-आगे
बढ़ते-बढ़ते
ही बढ़ना है

अनगढ़ दुनिया को हाथों से
सोच-समझकर
ही गढ़ना है।

1-2-1991

पात पुरातन लेकर

पात पुरातन लेकर
पतझर चला गया
प्रिय बसन्त अब आया
दण्ड-देहधारी विटपों का
दल किशलय से हरसाया ।
फूला,
महका,
लोक-तंत्र को भाया ।
कविता-कोकिल ने
छंदों में गाया ।

3-2-1991

जाते-जाते भी

जाते-जाते भी
जीने का
अंत न होगा
बना रहेगा
मेरा जीना
जीवन से जीवंत
प्रतिभा का
पौरुष का पुंज
काव्य-कला का
कूजित कुंज

1-3-1991

फूलों ने होली

फूलों ने
होली
फूलों से खेली

लाल
गुलाबी
पीत-परागी
रंगों की रँगरेली पेली

काम्य कपोली
कुंज-किलोली
अंगों की अठखेली ठेली

मत्त मतंगी
मोद मृदंगी
प्राकृत कंठ कुलेली रेली

4-3-1991

चन्द्र चमत्कृत

चन्द्र चमत्कृत
दर्पण-देही
चैत चाँदनी फगुआई है
फूली है
पाकर मोद-मही का
अंक अशंक ।
रूप-रूप से परिप्लावित है,
परिपूरित है
प्रकृति प्रदेशी वेश ।
पेड़ खड़े हैं
पवन प्रमोदित
मुग्ध निरखते
वाद्य-यंत्र से बजते ।
आकाशी
अनुराग अनंगी
व्याप गया,
चहुँ ओर-अछोर
मैं हूँ आत्म-विभोर ।

13-3-1991

अच्छा लगता है

अच्छा लगता है
जब कोई
बच्चा खिल-खिल
हँसता है।
वैभव का विष
तुरत उतरता है।
जीने में
सचमुच जीने का
सुख मिलता है।

17-3-1991

में जिलाये औ' जगाये ही रहुँगा

में
जिलाये
औ' जगाये ही रहुँगा
देह का दुर्लभ दिया।
चेतना से
ज्योति की जीवंतता से
तम यही तो हर रहा है—
आंतरिक
आलोक से
भव भर रहा है
सत्यदर्शी कर रहा है।

18-3-1991

देखा, पास पहुँचकर देखा

देखा,
पास पहुँचकर देखा,
'हेमहार' तरु अमलतास को।

मुझको आये याद 'निराला'!

काव्य-कृती को
मैंने झुककर
नमन किया,
फिर से उनके साथ जिया।

पत्र-पुष्प के
उनके अक्षर
गीत सुने,
गुन-कौरव के
गुरुतर अर्थ गुने।

अतिशय हर्ष-हिलोर हुआ,
भास्वर भाव-
विभोर हुआ!

23-3-1991

मेरी कलम चोंच से लिखती

मेरी कलम
चोंच से लिखती
चहचह करते शिल्पित शब्द।

पंक्तिबद्ध हो जो उड़ते हैं,
लीला लोल ललित करते हैं,
मुक्त गगन में
अर्थालोकित पंख पसार,
बनकर
जीवन की जयमाल!

28-3-1991

नींद आई भी न आई

नींद
आई भी न आई,
और मैं
सोता हुआ
जगता रहा,
ओस बूँदों में
झलकते
सूर्य को
लखता रहा।

13-8-1990

जी आया

जी आया
अपने जीवन के
अस्सी साल
अब
आ पहुँचा
इक्यासी में।
प्राण पुष्ट
मैं इसे जिऊँगा,
तम को ताने तना
रहूँगा,
नहीं झुकूँगा
नहीं झुकूँगा।
नये साल में
नया लिखूँगा,
नये लिखे में नया दिखूँगा,
सत्य-समर्पित सधा
रहूँगा,
शब्द अर्थ का
श्रमिक
बनूँगा।

23-3-1991

जो रुचिर रुचि से रची हो

जो रुचिर रुचि से रची हो,
शब्द शासित हो,
प्रवाहत सरित-स्वर हो,
चेतना के
चारु चिंतन से लसित हो,
सृष्टि हो कवि के हृदय की
अर्थ की अभिव्यक्ति हो,
जीवन जिये,
औं' लोक-लय में
झूमती हो।

खिले,
फूले,
ज्योति की
जयमाल जो हो
वही कविता है सुभाषित,
वह नहीं
जो भ्रांतियों से
हो प्रपंचित।

30-3-1991

सब कुछ देखा

सब कुछ देखा,
फिर-फिर देखा,
जो देखा वह देखा देखा ।
देखे में कुछ नया न देखा,
हेर-फेर का प्रचलन देखा,
दूषण देखा,
शोषण का अपलेपन
देखा ।

अपलेपन का पीड़न देखा,
झोंपड़ियों को रोते देखा,
अठमहलों को हँसते देखा,
जाली मालामाली देखी,
कंगाली बदहाली देखी,
दुनियादारी
डसती देखी ।
धरती
नीचे
धँसती देखी ।

31-1-1991

निशा-निशाकर का

निशा-
निशाकर का
आमोदित अंक मिला ।
दिवा-
दिवाकर का अनुरागी
कंजखिला ।
दुपहर देवी का,
आँगन में नृत्य हुआ;
सांध्य सुन्दरी का
दीपोत्सव दिव्य हुआ ।
निशा
दिवा,
दुपहर,
संध्या को
मैंने सतत जिया,
सत्य-समर्पित
कविताओं का
सार्थक
सृजन किया ।

1-4-1991

भरते-भरते

भरते-भरते
जितना-जितना
भरता जाता
उतना-उतना मन गहरे से
ज्यादा गहरा
होता जाता
मानव का मन पूरा-पूरा कभी न भरता
कुछ-कुछ खाली-खाली दिखता
चाहे
इसमें सिंधु समायें
चाहे,
शोभा सुषमा सारी
संस्कृतियाँ इसकी हो जायें,
ललित लोक पर लोक बसायें-
इसके भीतर
अपनी दुनिया ।

मानव का मन
हरदम
हरदम
भरा-भरा भी भरा न लगता
मथा-मथा भी मथा न लगता,
शंख सरीखा
बजने लगता;

नादनिनादित
शब्द निकलते
कविताओं के साथ थिरकते ।

मानव का मन प्रगतिशील है
गत से आगत
आगत से आगम को जाता
आगम को भी
गत-आगत कर-
आगे का आगम हो जाता,
कभी न पिछड़ा-
कभी न
छिछला होता
व्यापक से व्यापक हो जाता ।

4-4-1991

जन के पथ की

जन के पथ की
खबर खरी हो,
साँची हो,
बानी-बोली
प्राणवंत हो,
बाँकी हो,
मानववादी
सोच-समझ की साखी हो,
लोकतंत्र की
सत्यालोकित आँखी हो ।

4-4-1991

चारु चरित्री

चारु चरित्री,
चित्रित भाषा,
मानवबोधी व्यंजक हो—
संज्ञानी प्रतिबिम्बन वाली
अनुरागी,
अनुरंजक हो,
वस्तुपरक विवरण-बोधी भी
कुंठित काय
कठोर न हो,
परिमल पूरित
आत्मपरक हो,
झंझा
और झकोर
न हो।

6-4-1991

न जवान

न जवान-

न बूढ़ा-

न जीवित-

न मरा-

पहचान खोया आदमी,

खाक हो चुका

खाक छानते-छानते!

20-6-1991

साक्षी है

साक्षी है
फटी कमीज
कि
वह भी
फटा है
फटेहाल है
जो उसे
पहने है
गले से लटकाये
सीने से चिपकाये!

2-8-1991

अजीब आदमी हो जी!

अजीब आदमी हो जी!

फजीहत
फजीहत कहते हो
फजीहत फाड़कर
मैदान में
नहीं उतरते हो
मायूस बैठे
मातम मनाते हो।
कुछ तो करो जी,
खाल की ही
खजड़ी बजाओ,
उछलो
कूदो
नाचो
गाओ
माहौल तो
जिंदगी जीने का
बनाओ
हँसो
और
हँसाओ।

28-7-1991

जो न होना था, हुआ

जो न होना था, हुआ;
हुआ जो यह हुआ—
अनजाना हुआ।

अब जो आये,
नये आये,
अलौकिक का
नया संस्करण लाये,
मंत्र मारते,
झूमते-झामते—
इतराये।
लौकिक ऊँट की नाक
अलौकिक की नकेल से
नाथने आये;
ऊँट को चोटी पर चढ़ाने आये,
न पाई ऊँचाई को पाने आये,
न लौकिक ऊँट को नाथ पाये—
न चोटी पर चढ़ा पाये—
न चढ़ पाये—
न निदान समझ पाये—
विह्वल बिलबिलाये।

3-8-1991

प्यार-पलाश

प्यार-पलाश

खिला

फूला है वन में,

नहीं ईंट-पत्थर के भव्य भवन में-

नहीं नवोढ़ा के कामातुर तन में-

नहीं प्रपंचक पूजक जन के मन में।

रूप-रंग अनुराग मिला है वन को,

हर्षित

मुनिवर पेड़ हुए,

मुसकाये;

पवन प्रमोदित

हुआ, प्रवाहित झूमा,

पंख पसारे

गाते पक्षी प्यारे।

1-8-1991

यह जो मेरा अंतःकरण है

यह जो मेरा अंतःकरण है
मेरे शरीर के भीतर
मैंने इसे
युग और यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में
द्वन्द्व और संघर्ष को झेल-झेलकर
सोच-समझ से
मानवीय मूल्यों का साधक
और सृजन-धर्मी बनाया
तब अपनाया।

यही तो है
मेरे चिंतन का—
मानवीय बोध का
परिपुष्ट केन्द्र।

इसी केन्द्र से
प्राप्त होती है मुझे
अडिग अखंडित आस्था—
चारित्रिक दृढ़ता।

इसी परिपुष्ट केन्द्र से
निकली चली आती हूँ
मेरे आत्म-प्रसार की कविताएँ
दूसरों का आत्म-प्रसार बनने वाली
कविताएँ
जो नहीं होतीं कुण्ठा-ग्रस्त

जो नहीं होतीं पथ-भ्रष्ट
जो नहीं होतीं धर्माध
जो नहीं होतीं साम्प्रदायिक
जो नहीं होतीं
काल्पनिक उड़ान की
कृतियाँ
जो नहीं होतीं
भ्रम और भ्रांतियों का
शिकार
जो नहीं होतीं खोखले शिल्प की
खोखली अभिव्यक्तियाँ
जो नहीं होतीं
मानवीय जीवन की,
मुरदार अस्थियाँ
जो नहीं होतीं
तात्कालिक
जैविक संस्पर्शशील,
जो नहीं होतीं
राजनैतिक हठधर्मिता की
संवाहक
जो नहीं होतीं
अवैज्ञानिक या अलौकिक
बोध की प्रतिच्छवियाँ।

मैंने
इसी परिपुष्ट और परिष्कृत
केन्द्र का
जीवन जिया है

न मैंने अंतःकरण को दगा दिया

न अंतःकरण ने मुझे दिया
न मैं हतप्रभ हुआ—
न मेरा अन्तःकरण,
प्रारम्भ से ही
संवेदनशील होता चला आया है
मेरा अंतःकरण
तभी तो मैं भी इसी के साथ-साथ
संवेदनशील होता चला आया हूँ
तभी तो मेरी कविताएँ भी
वही संवेदनशीलता
सम्प्रेषित करती
चली आती हैं
तभी तो चेतना और चिरायु होकर
जीती-जागती रहती हैं,
मेरी कविताएँ।

12-4-1991

न पत्थर चूमता है पत्थर को¹

न पत्थर चूमता है पत्थर को
न पत्थर बाँधता है बाहों में
पत्थर को
न पत्थर करता है मर्दन पत्थर का
न पत्थर देखता है पत्थर को
न पत्थर उत्तेजित होता है
पत्थर को देखकर
न पत्थर मुग्ध होता है
पत्थर को देखकर
न पत्थर देता है निमंत्रण पत्थर को
न पत्थर उठाता है भुजाएँ
न पत्थर तोड़ता है पत्थर की जंघाएँ
न पत्थर कुसुमित लता है
उरोज में
न पत्थर काँपता-पसीजता है
न पत्थर बहता है धार-धार
न पत्थर होता है पवित्र
न पत्थर करता है पवित्र
न पत्थर केलि करता है पत्थर से
पत्थर नहीं रहता पत्थर
खजुराहो में।

-
1. 'साक्षात्कार' पत्रिका के अक्टूबर-दिसम्बर, 1990, के अंक में प्रकाशित एक लेख के अंश में उद्धृत श्री अशोक बाजपेयी की कविता की पंक्तियाँ पढ़कर।

पत्थर हो गया परिवर्तित खजुराहो में
वहाँ की सुघड़ मूर्तियों में
सप्राण हो गया निष्प्राण से
आत्माभिव्यक्तियों में
कला की कालजयी कृतियों में
चिरायु चेतना की
उपलब्धियों में
सदेह हो गया पत्थर
जीवंत जीने लगा
इन्द्रियातुर जीवन
नर और नारियों का

तभी तो वहाँ-खजुराहो में
वही मिलते हैं प्रतिष्ठित
एक-दूसरे को निहारते
तन-मन वारते
एक दूसरे को
आलिंगन में आबद्ध किये
एक दूसरे को चूमते
प्रेमासक्त, विभोर,
केलि-कला में लिस और लीन
न कहो-न कहो इन्हें-
इन सप्राण कलाकृतियों को-
पत्थर-पत्थर-पत्थर ।

4-7-1991

नेतृत्व का नायक

नेतृत्व का नायक
कभी यहाँ,
कभी वहाँ
भटकता है,
अपना सिर
बुरी तरह पटकता है,
झाड़ियों के मुँह में
अटकता है,
सत्य की
आँख में खटकता है।

9-2-1990

तुम

तुम
पूनम के
चन्द्रोदय हो
मैंने
तुम पर
तन-मन वारा
जब
आँखों ने
तुम्हें निहारा

21-8-1991

बादल पंख बने

बादल
पंख बने पर्वत के,
फड़-फड़ फड़के,
घने हुए घहराये,
लेकिन
उसको उठा न पाये,
उड़ा न पाये,
लेकर भाग न पाये,
झरे-
झार-बौछार मारकर,
पानी होकर-
बरसे पानी,
उसके चारों ओर,
देह पाहनी
शीतलकाय हुई;
यह दिन
मुझको याद रहेगा
वर्षा मंगल का।

28-8-1991

ऊपर, गर्जन-तर्जन करते

ऊपर,
गर्जन-तर्जन करते,
मेघ मंडलाकार घहरते,
क्षण-क्षण
कोप-कटाक्ष तड़ित से,
भयाक्रांत
अम्बर को करते।

नीचे,
नदिया केन किशोरी,
माँ धरती के आँगन में-
प्रवहमान है
धीर नीर से भरी-भरी,
पुलकित लहरों से सँवरी
छल-छलना वाले मेघों से
नहीं डरी।

29-8-1991

चला भी न चला वह¹

चला भी न चला वह
समय के साथ,
जहाँ सब चलते हैं
जमीन में जीने के लिए,
गंध
और गमक से गमगमाते
शब्द और अर्थ से
खिलखिलाते ।

न हुई सुबह उसकी सुबह;
न हुआ दिन उसका दिन,
न हुई शाम उसकी शाम,
न हुई रात उसकी रात ।
न चुका भी चुका है वह
दूसरों के लिए,
अपने लिए नहीं ।

1. मित्र शमशेर का काव्य संकलन 'चुका भी हूँ नहीं मैं'—पढ़कर दि० 30-8-75 को लिखी अपनी कविता को पुनः दि० 30-8-91 को सुधार कर लिखा ।

प्रकाशित खड़ा है

प्रकाशित खड़ा है
पारदर्शी दिन
तेजस्वी सूर्य का सिर
ऊपर उठाये
चराचर सृष्टि को
चिन्मय बनाये
मुझे
आत्मीय भाव से
अपनाये

16-9-1991

सब हैं व्यस्त

सब हैं व्यस्त
संकट-ग्रस्त
सब तरह से पीड़ित त्रस्त
फुरसत किसे है अब कहाँ
पास आये
बैठे यहाँ
कहे अपनी, सुने मेरी
खुश हो
और खुश बनाये।

17-9-1991

अम्बर का छाया मेघालय

अम्बर का छाया मेघालय
तड़-तड़-तड़-तड़
तड़का टूटा,
रोर-रोर ही
फूटा, फैला
चपला चौंकी-
फिर-फिर चौंकी,
बाहर आकर
चम-चम चमकी,
गदगद-गदगद
गिरा दौंगरा,
पानी-पानी हुआ धरातल,
कल-कल
छल-छल
लहरा आँचल।

19-9-1991

सूरदास ने कभी कहा था

सूरदास ने कभी कहा था
नारी को शृंगार भाव से,
'अद्भुत एक अनूपम बाग'।

युग बदला,
अब नारी बदली,
नहीं रही वह बाग पुरातन।

अब नारी है नर के साथ
करनी करते उसके हाथ।

21-9-1991

दिन का दर्पण

दिन का दर्पण
नित्य दिखाता
दिनकर,
सम्प्रेषित करता दर्पण से,
अवनी तल का व्यापक अंक,
जहाँ—
अतुल आमोदन होता,
अविनश्वर
अनुरंजक।
मैं
अनुरंजक आमोदन का
आसव पीता हूँ
जग में जीवन
अविकल जीता हूँ।

2-9-1991

मैदान में

मैदान में
अकुंठित खड़ा
नीम का
निर्भ्रांत गोलवा पेड़
वनस्पतीय बोध से
चहचहाता है
पत्तियाँ लहराता है
झूम-झूम जाने को
गाने को बुलाता है
जीने की लालसा जगाता
और बलि-बलि जाता है

22-9-1991

सुबह!

सुबह !
न निकले सूर्य की
केवल,
उत्तर के केसरिया रंग की-
आ बैठी
मेरी आँखों में
और मुझे अपनाये है।

मैं उसका हूँ,
वह मेरी है,
दिशा-दिशा में,
रोम-रोम में,
पुलक व्याप्त है।

अब, ज्यों ही सूरज निकलेगा
मैं स्वागत
तत्काल करूँगा.
लोकालोकित लय में
दिन भर सृजन करूँगा,
रवि-रंजित
जीवंत जिऊँगा।

17-10-1991

धूप धूपाया

धूप धूपाया
यह दिन भाया,
जैसे हो मेरी ही काया—
कविताओं ने
जिसे बनाया,
जिसको लय से गाया।

शाम हुए भी
मेरी शाम न होगी!
मेरी काया
कभी अनाम न होगी!

17-10-1991

धरती घूमी

धरती घूमी,
छिपा ओट में सूरज!

सूर्यमुखी अब
सूर्य-विमुख
हो गई धरा।

रात हुई,
मैं लेटा,
बंद अकेले कमरे में
बल्ब बुझाकर सोया,
आयी नींद।

मैंने,
सपने की दुनिया में,
सूर्यमुखी दिन
फिर से देखा!

चकित,
चमत्कृत किया
चेतना ने फिर मुझको

सम्मुख देखा;
वह पहाड़ भी
सिंह-पुरुष की तरह खड़ा है,
मंदिर के भीतर का घंटा
गरज रहा है!
पेड़ हरे हँसते लहराते

स्वाभिमान से खड़े हुए हैं,
प्राकृत छवि का
काव्य-पाठ-सा करते !

भावावेशित
पवन प्रहर्षित
प्रवहमान है !

शब्द-शब्द के प्रेम-पखेरू,
स्वर-ध्वनियों के पंख पसारे,
उड़ते-उड़ते चहक रहे हैं
दूर, नदी के तट तक पहुँचे
जल-प्रवाह में तैर रहे हैं !

माटी के आमोद अंक का
यह उत्सव है,
जीवन के वंदन का उत्सव !
इस जीवन-वंदन उत्सव से
मुदित हुआ मैं !

सब कुछ प्रिय है—
मनमोहक है,
किंचित् कहीं कचोट नहीं है !

यही सृष्टि है
शुभ सुषमा की—
मानवबोधी मानवधर्मी—
परम प्रेरणा-दायक, अच्छी !

मैं, बूढ़ा भी, रहा न बूढ़ा,
आयुष्मान कुलकता हूँ,
ऐसे दुर्लभ दिन के साथ,
आगे भी,
ऐसे ही दुर्लभ दिन जीने को !

19-10-1991

हाथ से बेहाथ होकर

हाथ से बेहाथ होकर
गिरा,
टूटा,
फर्श पर दम तोड़ बैठा,
काँच का मेरा गिलास!

भूख का भाषण हुआ अब
दूध का
व्याकुल विलाप।

पेट खाली रहा खाली,
और, मैं भी
चुप रहा,
इस त्रासदी को सह गया,
बेहाल
होकर रह गया।

20-10-1991

मालवा में गीत मेरे गूँज जायें

मालवा में गीत मेरे गूँज जायें,
मैं यहाँ पर गीत गाऊँ,
वह वहाँ पर घनघनायें,
मालवा में आग का डंका बजायें।

मालवा में गीत मेरे गूँज जायें,
मैं यहाँ से नाग छोड़ूँ,
वह वहाँ पर फनफनायें,
मालवा में क्रांति का भूचाल लायें।

मालवा में गीत मेरे गूँज जायें,
मैं यहाँ से तीर मारूँ
वह वहाँ पर सनसनायें
मालवा में रक्त की ज्वाला जलायें।

मालवा में गीत मेरे गूँज जायें,
मैं यहाँ पर बीज बोऊँ,
वह वहाँ पर जन्म पायें,
मालवा की गोद में फल-फूल लायें।

29-9-1950

मेरा फूल नहीं खिलता है

मेरा फूल नहीं खिलता है,
सूने और अकेलेपन में,
सूनेपन के जर्जर वन में,
बंध्या धरती के आँगन में।

मेरा फूल सदा खिलता है,
ऊँचे चौड़े वक्षस्थल पर,
कर्मठ हाथों के करतल पर,
युग के बजते
पल प्रतिपल पर।

30-7-1953

कल, दुर्गा की

कल,
दुर्गा की
भुवन-मोहिनी
दिव्य मूर्तियाँ
जल-समाधि ले
चली गयीं संसार से
शक्ति-शौर्य-साहस-संगोपन
हुआ समर्पित काल को।

नगर
पुनः
अब नगर हो गया
पहले जैसा
अपनी चाल चला फिर पैसा
दाँव-पेंच अधिकारी
चक्कर-मक्कर की बन आई।

18-10-1991

मेरे ही प्रतिरूप पेड़ पर

मेरे ही
प्रतिरूप पेड़ पर
उड़कर आई, बैठी,
चंचल दृग नेहातुर चिड़िया-
बया नाम की-
सस्वर बोली अपने मुँह से
मेरी कविता
मुग्ध पत्तियाँ झूमीं
धूप धवल मुसकाई,
प्रकृति
मनोरम
मुझको भायी ।

2-11-1991

आदमी का जाया

आदमी का
जाया
उपजाया भी,
न हुआ
अब तक
वह आदमी,
धरा-धाम का—
गौरव-गुन-ग्राम का—
कौड़ी का-छदाम का—
काम और नाम का।

25/26-12-1991, बाँदा

मनहर, जैविक

मनहर,
जैविक जीवन-धारी
रंग-बिरंगे पंखों वाला
यह कठफोड़वा,
प्रकृति-प्रिया की
शिल्प-सँवारी
अनुपम कृति का छंद है
जो आता है,
मुझको देकर
शिल्प सँवारा छंद,
उड़ जाता है,
मन से कभी न उड़ पाता है,
भाषा भाषी बन जाता है।

29-12-1991

बिजली बनी

बिजली बनी
काँच की चूड़ी,
चम-चम चमकी
चढ़ी कलाई-
खन-खन खनकी,
काम-कुंड में डूबी।

यही
पहेली
अनबूझी थी-
मैंने बूझी-
मुझको
अच्छी
सूझी,

31-12-1991

बकझक-बकझक

बकझक
बकझक
नहीं करो,
उल्टे पाँव नहीं डगरो;
सच की साँस चलो
गाँस-फाँस से
बच निकलो;
अपने प्राण पलो
फूलो और फलो।

31-12-1991

उड़कर आये

उड़कर आये
नीलकंठ जी मेरे घर में
दर्शन देकर मुझे रिझाने
मेरे दुख-संताप मिटाने।

मैंने देखा
किंतु न रीझा।

मैंने पूछा—
बनते हो शिव-शम्भू!
कहाँ गया वह जटाजूट?
कहाँ गई सिर की गंगा?
कहाँ गया
वह चन्द्र दुइज का?
कहाँ गई मुँडों की माला?
कहाँ ब्याल की माल गई?
कहाँ गया डमरू?
त्रिशूल अब कहाँ गया?
नंदी कहाँ?
कहाँ अर्धांगी?
आ धमके,
विषपायी जैसा स्वाँग दिखाने!

हटो, हटो,
मैं नहीं चाहता तुम्हें देखना,
तुम्हें देखकर भ्रम में रहना।

तुम क्या संकट काट सकोगे?

शक्तिहीन केवल चिड़िया हो।
विष पीते तो मर ही जाते,
उड़कर यहाँ न आ पाते।

तुम वरदान भला क्या दोगे?
खुद फिरते हो मारे-मारे।

शापित हो तुम,
चक्कर-मक्कर काट रहे हो,
तुम क्या दोगे त्राण किसी को?

भ्रम को पाले पूज्य बने हो,
पूज्य बने तुम,
झूठे मन से हर्षित हो लो,
मुझे न हर्षित कर पाओगे।

जाओ,
दाना चुगो,
पेट की भूख मिटाओ
शंकर के प्रतिरूप न बनकर
भ्रम फैलाओ,
नहीं ठगो, अब
उड़कर जाओ
झाड़ी-जंगल में
छिप जाओ,
झूठ प्रतिष्ठा नहीं कमाओ!

30-12-1991

हवा ठंडी

हवा ठंडी-
बहुत ठंडी
मारती है
चपत मुझको
बार-बार ।

धूप
मेरी पीठ करती
ताप तापित बार-बार ।

द्वन्द्व यह
निर्द्वन्द्व होकर
झेलता हूँ
मार खाता
पीठ अपनी
सेंकता हूँ-

11-1-1992

शशक

शशक

तुम-

प्राकृत जैविक तनधारी

हरी घास पर बैठे

मुझको दिखते प्रिय लगते हो

श्वेत

कपासी

परम अभाषिक

मौन समान,

भाषिक होकर

जो बन जाता

मेरी कविता की प्रतिमूर्ति,

जिससे होती

सम्मोहन की पूर्ति

14-1-1992

जन्म-मरण का 'होना' और 'न होना'

जन्म-मरण का 'होना' और 'न होना'
यही प्रकृति का अटल नियम है।
देश-काल भी इसी नियम के
अन्तर्गत है।
गत से आगत-
आगत से आगम होता है;
यही-यही क्रम फिर-फिर चलता;
आगम से आगे का आगम
इसी तरह से
होता और न होता,
कभी न इससे बचता।

नित-नित नूतन विकसित होता,
यह विकास भी विगलित होता,
विगलित होकर
रूप बदलकर
प्रचलित होता।

परिवर्तन से परिवर्तन-
फिर-फिर परिवर्तन
होता,
प्रत्यावर्तन कभी न होता।

कभी न होगा 'शून्य' 'शून्य' ही,
सदा-सर्वदा
भरा रहेगा
सृष्टि-सृष्टि से।

किंतु, चेतना के अर्जन से
'होने' और 'न होने' पर भी
अमित प्रभाव पड़ा है;
प्रकृति
चेतना से अनुकूलित होते-होते
मानवबोधी
चेतन सृष्टि हुई है
यह लौकिक मानव की
प्रियतम सिद्ध हुई है,
परम अलौकिकता से
उसको मुक्ति मिली है।

द्वन्द्व और संघर्ष
निरंतर चला करेगा
लौकिक मानव
लौकिक जीवन जिया करेगा।

मुक्ति और निर्वाण नहीं है।

नाश और निर्माण है
प्राण और निष्प्राण है।

चेतन रहकर जीने में कल्याण है,
एकमात्र बस
यही सत्य-संज्ञान है।

18-1-1992

धवल, यशस्वी

धवल,
यशस्वी,
कांतिकाय तुम,
शरद-पूर्णिमा के आत्मज से,
पुलक-प्यार के पंख पसार,
उड़ आये
मेरे आँगन में
बहुत दिनों के बाद!

अरे कबूतर!
मुग्ध हुआ मैं
तुम्हें देखकर,
भूल गया अब सब कुछ अपना।

एक हुआ मैं तुमसे,
तुम मेरे—
मैं हुआ तुम्हारा!

करो करो जी! खूब गुटरगूँ
मैं भी करूँ गुटरगूँ
बिना दाँत के मुँह से।

यही गुटरगूँ
प्राणवंत अनुरक्ति है
अर्थवंत अभिव्यक्ति है।

24-1-1992

यह-दैहिक¹

यह-
दैहिक,
दोलन-उत्तोलन
महिलाओं का
लोक-मंच पर;-
आदिम,
जैविक,
इंद्रियबोधी
यह उत्सर्जन;-
विषयातुर
अंगों की थिरकन,
लगातार
पदचायी
चंचल गमनागमनी;-
घूम-घुमौवल,
झूम-झुमौवल,
आवेशी
उद्रेकी नर्तन,
मुझे न भाया-
मैंने इसमें
युग-यथार्थ का

1. 23-5-1989 को मद्रास में पाश्चात्य नृत्य की प्रस्तुति देखकर।

द्वन्द्व
और संघर्ष न पाया ।
मैंने
इसमें
कर्मशील
कर्तव्य-परायण
लोक मंगलाचार न पाया ।

मैंने
इसमें
जो भी पाया
वह तो
केवल
महिलाओं के
हाड़-मांस का
अर्पण और समर्पण पाया,
नहीं आत्म आमोदन पाया,
नहीं चेतना का सम्प्रेषण पाया ।

सागर तट पर

देह मिली तो
पानी-ही-पानी की तुमको !
इसी देह के तरुण तरंगित
घोड़ों को तुम
बे लगाम दौड़ते हो,
और,
चौकड़ी भरते हिरनों की
रंगरेली दिखलाते हो,
नीलकाय तुम श्वेतकाय हो
फेन-फेन बन जाते हो
किंतु चेतना नहीं प्राप्त कर पाते हो
आदिकाल से अब तक केवल
प्राकृत जीवन जीते हो
महासिंधु-सागर-पयोधि, बस,
कहलाते हो,
आज तुम्हारे तट पर आकर,
मैंने तुमको अपनाया है,
और तुम्हारी ऊर्जा को
अपनी ऊर्जा में बदल लिया है
अब मैं बूढ़ा महाकाल से नहीं डरूँगा
लड़ते-लड़ते, जीते-जीते नहीं
मरूँगा ।

मद्रास 4-3-1992

